अथ षड्विंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**याज्ञवल्क्यः**। देवता—**अग्न्यादयः**। छन्दः—**अभिकृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**॥

पूर्ण स्वास्थ्य

अग्निश्च पृथिवी च सन्नते ते मे सं नमतामदो वायुश्चान्तरिक्षं च सन्नते ते मे सं नमतामदऽआदित्यश्च द्यौश्च सन्नते ते मे सं नमतामदऽआपश्च वरुणश्च सन्नते ते मे सं नमतामदः। सप्त सꣳसदोऽअष्टमी भूतसाधनी। सकामाँ२॥ऽअध्वनस्कुरु संज्ञानमस्तु मेऽमुना॥१॥

१. **अग्निश्च पृथिची च**=अग्नि और पृथिवी **सन्नते**=परस्पर आनुकूल्य से चल रहे हैं। पृथिवी अधिष्ठान है और अग्नि उसपर अधिष्ठित प्रधान देवता है, इनका कभी प्रातिकूल्य नहीं होता। ये दोनों प्रभुकृपा से मेरे भी अनुकूल हैं। इनकी अनुकूलता से मेरा शारीरिक स्वास्थ्य ठीक है, पृथिवी शरीर है और अग्नि उस शरीर में व्याप्त होनेवाली उचित उष्णता (वैश्वानर अग्नि=पाचन का कारणभूत अग्नि) है। इनके ठीक रहने से मैं स्वस्थ हूँ। **ते**=वे दोनों **मे**=मेरे प्रति **अदः संनमताम्**=उस प्रभु को प्राप्त कराएँ, अर्थात् मैं स्वस्थ शरीरवाला बनकर भोगप्रवण न बन जाऊँ, अपितु इस स्वस्थ शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रभु के माहात्म्य को देखनेवाला बनूँ। २. **वायुः च अन्तरिक्षम् च**=वायु और अन्तरिक्ष **संनते**=परस्पर अनुकूलतावाले हैं। अन्तरिक्ष वायु का अधिष्ठान है। वे दोनों प्रभुकृपा से मेरे भी **सन्नमताम्**=अनुकूल हैं। इनकी अनुकूलता से मेरा मानस स्वास्थ ठीक है। अन्तरिक्ष हृदय है और वायु उसमें निरन्तर सञ्चार करनेवाले प्राण है। इनके ठीक होने से मेरा मन पूर्ण स्वस्थ है। **ते**=वे दोनों **मे**=मेरे प्रति **अदः सं नमताम्** =उस प्रभु को प्राप्त कराएँ। मैं इनकी रचना में प्रभु के माहात्म्य को देखूँ। ३. **आदित्यः च द्यौः च**=सूर्य व द्युलोक **सन्नते**=परस्पर अनुकूलतावाले हैं। द्युलोक आदित्य का अधिष्ठान है। प्रभुकृपा से ये मेरे प्रति भी अनुकूल हैं। इनकी अनुकूलता से मेरा मस्तिष्क स्वस्थ है। वस्तुतः द्युलोक ही शरीर में मस्तिष्क है और उस मस्तिष्क में होनेवाली 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' ही आदित्य का प्रकाश है। इनके ठीक होने पर मस्तिष्क पूर्ण स्वस्थ होता है। **ते**=वे दोनों **मे**=मेरे प्रति **अदः संनमताम्**=उस प्रभु को प्राप्त कराएँ, अर्थात् मैं मस्तिष्क में तथा उस मस्तिष्क में रहनेवाले ज्ञान के प्रकाश में प्रभु के माहात्म्य को देखूँ। ४. **आपः च वरुणः च**=जल व जलों की अधिष्ठातृ देवता वरुण **सन्नते**=परस्पर अनुकूलतावाले हैं। 'आपः' शरीर में वीर्य हैं और 'वरुण' शरीर में द्वेषादि का वारक है, द्वेषादि से दूर रहकर उत्तम व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधना ही 'वरुण' बनना है। वीर्य के अभाव में वरुण नहीं बना जाता, निर्वीर्य पुरुष चिड़चिड़ा व झगड़ालु हो जाता है। इनकी अनुकूलता से मेरा त्रिविध स्वास्थ्य ठीक रहता है। वीर्य तथा व्रतों का बन्धन शरीर को नीरोग, मन को निर्मल व बुद्धि को तीव्र व दीप्त बनाते हैं। ५. हे प्रभो **सप्त**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि—ये सात **संसदः**=तेरे आयतन हैं। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्रकृति का ज्ञान होने पर प्रकृति के कण-कण में तेरी महिमा दिखती है, मन तेरी

महिमा का अनुभव करता है और तीव्र बुद्धि से ही तेरा दर्शन होता है। इस प्रकार ये सात तेरे संसद् हैं। **अष्टमी**=आठवीं वाणी **भूतसाधनी**=सब भूतों को वश में करनेवाली होती है। इसके द्वारा हम अपने विचारों को प्रकट करके उनके मस्तिष्कों व हृदयों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। ६. हे प्रभो! आप **अध्वनः**=हमारे मार्गों को **सकामान्**=सकाम, प्राप्तकाम, अर्थात् सफल मनोरथवाला **कुरु**=कीजिए। हम जिस भी मार्ग पर चलें, वहाँ अवश्य सफल हों और इन सब मार्गों पर चलते हुए **मे**=मेरा **अमुना**=आप प्रभु से **संज्ञानम् अस्तु**=संज्ञान हो, संगमन हो। आपसे ऐकमत्यवाला होकर ही मैं उस-उस मार्ग का अनुसरण करूँ, अर्थात् मुझे अपनी सब क्रियाओं में सदा आपका स्मरण रहे।

भावार्थ—मैं शरीर, हृदय व मस्तिष्क के स्वास्थ्य को सिद्ध करूँ। वीर्यरक्षा व व्रतों का बन्धन मुझे पूर्ण स्वस्थ बनाये। मैं ज्ञानेन्द्रियों, मन व बुद्धि से प्रभु का साक्षात्कार करूँ, वाणी से लोगों को आकृष्ट करनेवाला बनूँ। मेरी सब क्रियाएँ सफल हों तथा प्रभुस्मरण के साथ हों।

ऋषिः—**लौगाक्षिः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**स्वराडत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

ज्ञानयज्ञ से प्रभु का आराधन

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳशूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय च।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिहभूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु ॥२॥

१. गतमन्त्र का 'विवस्वान् याज्ञवल्क्य'='ज्ञान की किरणोंवाला, यज्ञ में विचरनेवाला' प्रस्तुत मन्त्र में 'लौगाक्षि' बनता है, उसका दृष्टिकोण सदा लोकहितवाला होता है (लौग=**लौक**)। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि मेरा आपसे इस प्रकार संज्ञान हो कि **यथा**=जिसमें मैं **इमाम्**=इस **कल्याणी वाचम्**=कल्याणकर वाणी को **जनेभ्यः**=सब लोगों के हित के लिए **आवदानि**=समन्तात् व्यक्त करनेवाला बनूँ। मैं इस वेदवाणी को **ब्रह्मराजन्याभ्याम्**=ब्राह्मणों के लिए तथा क्षत्रियों के लिए **शूद्राय च अर्याय च**=शूद्रों के लिए तथा वैश्यों के लिए **स्वाय च**=अपनों के लिए तथा **चारणाय**=परायों के लिए (नास्ति रणो येन सह वाक् सम्बन्धरहितः मे शत्रुरिति वा—म०) शत्रुओं के लिए भी मैं इस वेदवाणी को उच्चरित, प्रकाशित करता हूँ। २. इस ज्ञान-प्रसार के कार्य से मैं **देवानाम्**=विद्वानों का **प्रियः भूयासम्**=प्रिय बनूँ, अर्थात् विद्वान् लोगों को मेरा यह ज्ञान-प्रसार का कार्य प्रीति देनेवाला हो और साथ ही **दक्षिणायै (दक्षिणायाः)**=दक्षिणा के **दातुः**=देनेवाले का **इह**=यहाँ **प्रियः**=प्रिय **भूयासमम्**=होऊँ। दक्षिणा देनेवाले को भी दक्षिणा देते हुए प्रसन्नता का अनुभव हो। ३. **अयम् मे कामः**=यह मेरी इच्छा है कि (क) मैं ब्राह्मणादि सभी के लिए वेदज्ञान को व्यक्त करूँ। (ख) इस कार्य से मैं विद्वानों का प्रिय बनूँ। (ग) दक्षिणा देनेवाले भी प्रसन्नता का अनुभव करें। यह मेरी इच्छा **समृध्यताम्**=समृद्ध हो, अर्थात् सफल हो। मेरे इस ज्ञानयज्ञ से आराधित हुए-हुए **अदः**=वे प्रभु **माः**=मुझे **उपनमतु**=समीपता से प्राप्त हों, अर्थात् मैं अपने इस कार्य से प्रभु को आराधित करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु मेरी इस इच्छा को पूर्ण करें कि मैं सभी के लिए वेदज्ञान को देनेवाला बनूँ। इस ज्ञानयज्ञ से मैं विद्वानों का प्रिय बनूँ। दक्षिणा को देनेवाले दक्षिणा देने में प्रसन्नता अनुभव करें और इस ज्ञानयज्ञ से मैं प्रभु की आराधना करके प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

जितेन्द्रिय, विकसित शक्ति, बलवान्

बृहस्पतेऽअति यदर्योऽअर्हाद् द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु।
यद्दीदयच्छवसऽ ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्।
उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतये त्वैष ते योनिर्बृहस्पतये त्वा॥३॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि मैं वेदज्ञान का प्रचार करूँ। प्रचार के लिए आवश्यक है कि वह वेदज्ञान हमें प्राप्त हो। वेदज्ञान को अप्राप्त व्यक्ति ने क्या वेद का प्रचार करना? अतः मन्त्र में उस वेदज्ञान के प्रकाश के लिए प्रार्थना करते हुए 'गृत्समद' ऋषि, जो प्रभु का स्तवन करते हैं (गृणाति) और प्रसन्न रहते हैं (माद्यति), कहते हैं कि हे **बृहस्पते**=वेदज्ञान के पति प्रभो! **यत्**=जिस वेदज्ञान को **अति अर्यः**=अतिशयेन जितेन्द्रिय, अपनी इन्द्रियों को वश में करनेवाला ही **अर्हात्**=(अर्हति) प्राप्त करने योग्य होता है। २. जो **द्युमत्**=ज्ञान की दीप्तिवाला तथा **क्रतुमत्**=सब यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाला वेदज्ञान **जनेषु**=(जनि प्रादुर्भाव) अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों में **विभाति**=विशेष-रूप से दीप्त होता है। ३. **यत्**=जो वेदज्ञान **शवसा**=बल से **दीदयत्**=चमकता है, अर्थात् जिस वेदज्ञान का प्रकाश सबल व्यक्ति में ही होता है। ४. हे **ऋतप्रजात**=(ऋतं प्रजातं यस्मात्—द०) ऋत के उत्पत्तिस्थान प्रभो! **तत्**=वह **चित्रम् द्रविणम्**=अद्भुत वेदज्ञानरूपी धन **अस्मासु**=हम गृत्समदों में **धेहि**=स्थापित कीजिए। आपसे वेदज्ञान को प्राप्त करके ही हम उसे लोगों में प्रचारित कर पाएँगे। इस वेदज्ञान के पात्र बनने के लिए हम (क) **अर्य**=जितेन्द्रिय बनेंगे, (ख) **जन**=अपनी शक्तियों का विकास करनेवाले बनेंगे तथा (ग) **शवस**=अपने में बल का सम्पादन करेंगे। इस वेदज्ञान के द्वारा जहाँ हम प्रकृति के सारे विज्ञान को प्राप्त करेंगे (द्युमत्), वहाँ इस वेद से हमें अपने कर्त्तव्यभूत यज्ञों का भी ज्ञान होगा (क्रतुमत्)। ५. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतो असि**=उपासना के द्वारा क्रिया में लाये हुए यम-नियमों से गृहीत होते हुए जाने जाते हो। **बृहस्पतये त्वा**=उस वेदज्ञान के पति प्रभु के लिए, अर्थात् उसकी प्राप्ति के लिए मैं तुझे ग्रहण करता हूँ। **एषः**=यह प्रभु **ते**=तेरा **योनिः**= उत्पत्तिस्थान है, अर्थात् इस प्रभु से ही तेरा प्रकाश हुआ है। **बृहस्पतये त्वा**=उस बड़े-बड़े लोकों के पति प्रभु के लिए तुझ वेदज्ञान को मैं ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—वेदज्ञान की प्राप्ति के लिए हम जितेन्द्रिय, शक्तियों का विकास करनेवाले व बलशाली बनें। यह वेदज्ञान प्रभु के प्रकाश के लिए भी आवश्यक है।

ऋषिः—**रम्याक्षी**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

वासना-विनाश व स्तवन

इन्द्र गोमन्निहा याहि पिबा सोमꣳशतक्रतो। विद्यद्भिर्ग्रावभिः सुतम्।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा गोमतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा गोमते॥४॥

१. गतमन्त्र का 'गृत्समद' प्रस्तुत मन्त्रों में 'रम्याक्षीः'=रमणीय आँखोंवाला बनता है। प्रभु का कुछ-कुछ आभास होने पर मानस आह्लाद का आँखों में बसना स्वाभाविक है। यह रम्याक्षि कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **गोमन्**=वेदवाणियोंवाले प्रभो! **इह**=इस मानव-जीवन में **आयाहि**=आप हमें प्राप्त हों। ३. इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु रम्याक्षि से कहते हैं कि हे **शतक्रतोः**=सैकड़ों प्रज्ञानोंवाले व शतवर्षपर्यन्त यज्ञमय जीवन बितानेवाले

रम्याक्षे! तू **सोमं पिब**=सोम का पान कर। शरीर में उत्पन्न इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित करनेवाला बन। यह सोम **विद्यद्भिः** (दो अवखण्डने)=विशेषरूप से वासनाओं का खण्डन करनेवालों से तथा **ग्रावभिः**=स्तोताओं (गृणन्ति इति–द०) से **सुतम्**=अपने अन्दर उत्पन्न किया जाता है। सोमरक्षा के लिए हम अपने अन्दर वासनाओं को उत्पन्न न होने दें और प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें। ३. अब रम्याक्षि कहता है–हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप उपासना द्वारा प्राप्त यम-नियमों से जाने जाते हो। हे वेद! मैं **त्वा**=तुझे **इन्द्राय गोमते**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए ही प्राप्त करता हूँ, जोकि वेदवाणियोंवाला है। **एषः**=यह प्रभु ही **ते**=तेरा **योनिः**=उत्पत्तिस्थान है। **इन्द्राय गोमते**=मैं तुझे उस सब आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले वेदवाणियों के पति प्रभु की प्राप्ति के लिए ही स्वीकार करता हूँ।

भावार्थ–प्रभु-प्राप्ति के लिए वीर्य की रक्ष और सोम का पान आवश्यक है। इसके साधन हैं, वासनाओं से बचना व प्रभु का स्तवन करना। वेदज्ञान भी प्रभु-प्राप्ति के लिए ही है।

ऋषिः–**रम्याक्षी**। देवता–**सूर्यः**। छन्दः–**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः–**धैवतः**।

गोमान् ग्रावा

इन्द्रा याहि वृत्रहन् पिबा सोमꣳशतक्रतो। गोमद्भिर्ग्रावभिः सुतम्।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा गोमतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा गोमते॥५॥

१. गतमन्त्र के ही भाव को परिवर्तित शब्दों में रम्याक्षि इस प्रकार प्रकट करता है–हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **वृत्रहन्**=ज्ञान के आवरणभूत काम को विध्वस्त करनेवाले प्रभो! **आयाहि**=आप यहाँ मेरे हृदयाकाश में आइए। २. उत्तर देते हुए प्रभु कहते हैं कि **शतक्रतोः**=सैकड़ों प्रज्ञानोंवाले व शतवर्षपर्यन्त यज्ञ को चलानेवाले रम्याक्षे। **सोमं पिब**=तू सोम का पान करनेवाला बन। यह सोम **गोमद्भिः**=वेदवाणियों का अध्ययन करनेवाले **ग्रावभिः**=स्तोताओं से **सुतम्**=उत्पादित किया जाता है। सोम की रक्षा के लिए आवश्यक है कि हम वेदवाणियों का सतत अध्ययन करें। ३. अब रम्याक्षि कहता है कि हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा प्राप्त यम-नियमों से जाने जाते हो। हे वेद। **त्वा**=मैं तुझे **गोमते इन्द्राय**=उस वेदवाणियोंवाले ज्ञानरूप परमैश्वर्य-सम्पन्न प्रभु की प्राप्ति के लिए ही प्राप्त करता हूँ। **एषः**=यह प्रभु **ते**=तेरा **योनिः**=उत्पत्तिस्थान है। मैं उस **गोमते इन्द्राय**=वेदवाणियोंवाले प्रभु के लिए ही **त्वा**=तुझे प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ–प्रभु की प्राप्ति के लिए सोम की रक्षा आवश्यक है, उस सोमरक्षा के लिए हम वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें और प्रभु का स्तवन करनेवाले हों। वेदज्ञान भी प्रभु की प्राप्ति के लिए साधन होता है।

ऋषिः–**प्रदुराक्षिः**। देवता–**वैश्वानरः**। छन्दः–**जगतीः**। स्वरः–**निषादः**॥

वैश्वानर प्रभु का आराधन

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम्। अजस्रं घर्ममीमहे।
उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा॥६॥

१. उल्लिखित साधनों को कार्यान्वित करता हुआ रम्याक्षि जिस दिन प्रभु का दर्शन करता है उस दिन 'प्रादुराक्षि' (प्रादुर्भूत ज्ञानवाला) बन जाता है और कहता है कि हम **ईमहे**=उस प्रभु से याचना करते हैं जो (क) **ऋतावानम्**=सत्य व यज्ञवाला है (ख)

वैश्वारनम्=(विश्वनरहितम्)=सब मनुष्यों का हित करनेवाला है, (ग) **ऋतस्य ज्योतिषस्पतिम्**=सत्य, अविनाशी ज्योति, अर्थात् तेज का पालक है—तेज का अधिष्ठान है, (घ) **अजस्त्रम्**=(न जरयति नश्यति) अनुपक्षीण व अहिंसित है, (ङ) **घर्मम्**=सब मलों का क्षरण करनेवाला तथा दीप्त है (घृ क्षरणदीप्त्योः)। २. यह प्रादुराक्षि प्रभु से कहता है कि **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपासना द्वारा धारण किये गये यम-नियमों से गृहीत होते हो। मैं **त्वा**=तुझे वेद को **वैश्वानराय**=विश्वनरों का हित करनेवाले प्रभु के लिए स्वीकार करता हूँ। **एषः**=ये प्रभु **ते**=तेरा **योनिः**=उत्पत्तिस्थान है, अतः मैं **त्वा**=तुझे **वैश्वानराय**=इस विश्वनरों का हित करनेवाले के लिए स्वीकारता हूँ—मेरा यह वेदाध्ययन प्रभु-प्राप्ति के लिए ही होता है।

भावार्थ—हम वैश्वानर प्रभु का आराधन करें। वे यम-नियमों से गृहीत होते है। वेदज्ञान प्रभु प्राप्ति का साधन बनता है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**वैश्वानरोऽग्निः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

भौतिकता का त्याग

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण।
उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा॥७॥

१. गतमन्त्र का प्रादुराक्षि=प्रभु के दर्शनवाला व्यक्ति सारी वासनाओं का संहार करनेवाला बनता है, अतएव 'कुत्स' हो जाता है। (कुथ हिंसायाम्)। कुत्स प्रार्थना करता है कि हम **वैश्वानरस्य**=इस विश्वनरहित करनेवाले प्रभु की **सुमतौ**=कल्याणी मति में **स्याम**=हों, अर्थात् हम हृदयस्थ प्रभु की कल्याणी मति को सुनें और उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करें। २. यह वैश्वानर **राजा**=सारे संसार को दीप्त करनेवाले हैं तथा इस संसार को व्यवस्थित Regulate करनेवाले हैं। **हि**=निश्चय से सबको **कम्**=सुख देनेवाले हैं। **भुवनानाम्**=सब भुवनों के प्राणियों के **अभिश्रीः**=अभिश्रयणीय हैं, सेवनीय हैं। सब प्राणी अन्त में प्रभु का ही आश्रय ढूँढते हैं। ३. **इतः**=इस सर्वाश्रयणीय प्रभु से **जातः**=प्राप्त विकासवाला व्यक्ति **इदम् विश्वम्**=इस सारे ब्रह्मण्ड को **विचष्टे**=(Abandon, Leave) त्याग देता है। प्रभु को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति संसार में उलझता नहीं। प्रभु-प्राप्ति के आनन्द की तुलना में संसार का आनन्द तुच्छ हो जाता है। ४. **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला वह प्रभु **सूर्येण**=(सरति) स्वयं सरण करनेवाले पुरुषार्थी के साथ **यतते**=उसकी उन्नति के लिए उद्योग करता है, अर्थात् प्रभु हमारा हित करते हैं, परन्तु करते तभी हैं जब हम स्वयं यत्नशील हों। ५. यह कुत्स कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपासना द्वारा प्राप्त यम-नियमों से गृहीत होते हो। 'कुत्स' ऋषि वेद को सम्बोधन करके कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु की प्राप्ति के लिए ग्रहण करता हूँ। **एषः**=ये प्रभु ही **ते**=तेरे **योनिः**=उत्पत्तिस्थान हैं। मैं **त्वा**=तुझे **वैश्वानराय**=वैश्वानर प्रभु की प्राप्ति के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—हम प्रभु को वैश्वानररूप में देखें, हम स्वयं भी सब मनुष्यों का हित करनेवाले बनें। प्रभु का दर्शन करनेवाला इस संसार में भोगों में नहीं उलझता, उन्नति-पथ पर निरन्तर आगे बढ़ता है और प्रभु उसकी सहायता करते हैं। यह वेदज्ञान उसे प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाता है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**वैश्वानरः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

उक्थरूपी वाहन

वैश्वानरो नऽऊतयऽआ प्र यातु परावतः। अग्निरुक्थेन वाहसा।
उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा॥८॥

१. गतमन्त्र का ऋषि कुत्स ही आराधना करता है—**वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला प्रभु **नः**=हमारी **ऊतये**=रक्षा के लिए **परावतः**=दूर-से-दूर देश से भी **आप्रयातु**=सर्वथा आये ही। सर्वव्यापकता के नाते प्रभु सर्वत्र हैं, परन्तु जब तक हमें प्रभु का ज्ञान नहीं तब तक प्रभु हमसे दूर ही हैं। प्रभु का ज्ञान ही हमें प्रभु का सामीप्य प्राप्त कराता है। २. वह **अग्निः**=हमें निरन्तर आगे ले-चलनेवाला प्रभु **उक्थेन वाहसा**=स्तोत्ररूप वाहन से समीप प्राप्त हो। प्रभु का स्तवन करता हुआ स्तोता प्रभु के गुणों को अपने में धारण करता है, प्रभु-जैसा बनता है और इस प्रकार प्रभु का उपासक व प्रभु के सामीप्यवाला होता है। ३. कुत्स प्रभु से कहते हैं कि हे प्रभो! आप **उपायगृहीतः असि**=उपासना द्वारा प्राप्त यम-नियमों से जाने जाते हो। ४. इस प्रकार प्रभु से कहकर कुत्स वेद को सम्बोधित करता है कि मैं **त्वा**=तुझे **वैश्वानराय**=सब नरों के हित करनेवाले प्रभु के लिए ग्रहण करता हूँ। **एषः**=ये प्रभु ही **ते**=तेरे **योनिः**=उत्पत्तिस्थान हैं। अतः **त्वा**=तुझे मैं **वैश्वानराय**=सब नरों का हित करनेवाले प्रभु के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु हमारे स्तोत्ररूप वाहनों पर आरुढ़ हो हमें प्राप्त होते हैं और हमारी रक्षा करते हैं। उस वैश्वानर प्रभु की प्राप्ति के लिए वेदज्ञान साधन बनता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वैश्वानरः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

महान् गृह (महागय)

अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयम्।
उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चसऽएष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे॥९॥

१. गतमन्त्र का वासनाओं का हिंसन करनेवाला 'वसिष्ठ' बनता है, अत्यन्त उत्तम निवासवाला होता है। यह प्रभु का आराधन इस प्रकार करता है—**अग्निः**=यह हमें निरन्तर आगे ले-चलनेवाला है **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा है और हमपर ज्ञान का प्रकाश करनेवाला है। इस ज्ञान के द्वारा **पवमानः**=हमें पवित्र करनेवाला है। **पाञ्चजन्यः**='ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' सभी का हित करनेवाला है। **पुरोहितः**=यह सृष्टि बनने से पहले से ही है अथवा सबसे आगे, सबसे बढ़कर हित करनेवाला है। २. **तम्**=उस **महागयम्**=(महान् गयः स्तुतिर्यस्य—म०) उरुगाय, महान् स्तुतिवाले अथवा (गय=गृह) महागृहरूप प्रभु की **ईमहे**=हम प्रार्थना करते हैं, अर्थात् उसी को पाने का प्रयत्न करते हैं। ३. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपयाम, स्वीकरण के द्वारा गृहीत होते है, अर्थात् जैसे पत्नी एक पति को स्वीकार करती है, इसी प्रकार जो उपासक एकमात्र आपका स्वीकार करता है उससे आप गृहीत होते हो। ४. यह 'वसिष्ठ' वेद को सम्बोधित करके कहता है कि **त्वा**=तुझे उस **अग्नये**=सर्वाग्रणी **वर्चसे**=तेजोरूप प्रभु की प्राप्ति के लिए ग्रहण करता हूँ। **एषः**=ये प्रभु ही **ते**=तेरे **योनिः**=उत्पत्तिस्थान हैं, अतः **त्वा**=तुझे उस **अग्नये वर्चसे**=तेजोरूप अग्रेणी प्रभु की प्राप्ति के लिए स्वीकार करता हूँ।

भावार्थ—उत्तम निवासवाला और शक्तिशाली वह बनता है जो प्रभु को अपना घर

बनाता है। वेद उस तेजोमय अग्निरूप प्रभु की प्राप्ति के लिए साधन है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृज्जगतीः**। स्वरः—**निषादः**।

महाँ इन्द्र

महाँ२॥ऽइन्द्रो वज्रहस्तः षोड॒शी शर्म॑ यच्छतु। हन्तु॑ पा॒प्मान॒ꣳ योऽ॒स्मान्द्वेष्टि॑। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि महे॒न्द्राय॑ त्वै॒ष ते॒ योनि॑र्महे॒न्द्राय॑ त्वा॥१०॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार प्रभु को **महागय**=महान् गृह समझनेवाले और अतएव उत्तम निवासवाले 'वसिष्ठ' कहते हैं कि **महान्**=वे प्रभु श्रेष्ठ हैं (मह पूजायाम्) पूजनीय हैं। **इन्द्रः**=(इदि परमैश्वर्ये) वे परमैश्वर्यवाले हैं, (इन्द to be powerful) सर्वशक्तिमान् हैं। **वज्रहस्तः**=वज्र उनके हाथ में है, अर्थात् 'वज गतौ' वे सदा क्रियाशील हैं, **'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'** उनकी क्रिया स्वाभाविक है। ३. **षोडशी**=सोलह कलाओंवाले वे प्रभु, हमारे जीवनों को इन सोलह कलाओं से युक्त करके हमें अविकल (सकल) बनाकर **शर्म यच्छतु**=सुख व कल्याण प्राप्त कराएँ। प्रश्नोपनिषद् में इन 'प्राण' आदि सोलह कलाओं का वर्णन है। उनसे युक्त होने पर हमारा जीवन अविकल (अव्याकुल) व सम्पूर्ण=Whole स्वस्थ बनता है। ३. वे प्रभु हममें से **पाप्मानम् हन्तु**=पाप को नष्ट करें और उसको भी समाप्त करें **यः**=जो **अस्मान्**=हमारे साथ **द्वेष्टि**=प्रीति न करता हो। वस्तुतः जब हमारा पाप नष्ट हो जाता है तब हमारे साथ प्रीति न करनेवाला भी नहीं रहता। पापनाश 'शत्रुनाश' का कारण बनता है। ४. हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप अनन्यरूप से आपका ही भजन करने से गृहीत होते हो। ५. वसिष्ठ वेद को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि **त्वा**=तुझे हम उस **महेन्द्रायः**=महान् इन्द्र की प्राप्ति के लिए स्वीकारते हैं **एषः ते योनिः**=यह महेन्द्र ही तेरा उत्पत्तिस्थान है। **महेन्द्राय त्वा**=उस महान् इन्द्र की प्राप्ति के लिए तुझे ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु 'महान्, इन्द्र, वज्रहस्त व षोडशी हैं', वे हमारा कल्याण करते हैं। हमारे पाप को नष्ट कर सभी को हमारे प्रति प्रीतियुक्त करते हैं। हम वेदज्ञान द्वारा प्रभु को पाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**नोधा गोतमः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराडनुष्टप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

दुःखनाशक प्रभु

तं वो॑ द॒स्ममृ॑ती॒षहं॒ वसो॑र्मन्दा॒नमन्ध॑सः।
अ॒भि व॒त्सं न स्वस॑रेषु धे॒नव॒ऽइन्द्रं॑ गी॒र्भिर्न॑वामहे ॥११॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नोधा'=नवधा स्तुति को धारण करनेवाला अथवा स्तुति के द्वारा आत्मधारण करनेवाला कहता है कि **तं इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **गीर्भिः**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा **नवामहे**=स्तुत करते हैं, जो (क) **वः**=आप सबके **दस्मम्**=दर्शनीय (प्रियवादिनं कार्यसाधकं च—उ०) हैं अथवा (दसु उपक्षये) दुःखों का नाश करनेवाले हैं, (ख) **ऋतीषहम्**=गति के द्वारा वासनाओं का पराभव करनेवाले हैं, अर्थात् हमें कर्मशील बनाकर काम, क्रोध आदि वासनओं में न फँसने देनेवाले हैं। (ग) **वसोः**=(वासयितुः—उ०) उत्तम निवास के कारणभूत **अन्धसः**=सोम के द्वारा **मन्दानम्**=आनन्दित करनेवाले हैं। ३. उस प्रभु की ओर हम **स्वसरेषु**=दिनों में, अर्थात् प्रतिदिन **नवामहे**=जाते हैं **न**=जैसे **धेनवः**=दुधार गौवें **वत्सम् अभि**=बछड़े की ओर। जैसे गो बछड़े की प्रति प्रेम से जाती है उसी प्रकार हम प्रेम से प्रभु की ओर जाते हैं। जिस प्रकार दूध से भरे ऊधस्वाली गौ के

लिए बछड़े की ओर न जाना व्याकुलता का कारण होता है, इसी प्रकार हमें प्रभु के उपासन के बिना अनमनापन-सा लगे। हम प्रभु के उपासन के लिए उतावले हों।

भावार्थ—हम प्रभु-उपासन के लिए उसी प्रकार प्रेमवाले हों जैसेकि गौ बछड़े के प्रति जाने के लिए प्रेमवाली होती है। प्रभु ही हमारे सब दुःखों के नाशक हैं।

ऋषिः—**नोधा गोतमः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

अग्निहोत्र-सन्ध्या-दान

यद्वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो। महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजाऽउदीरते॥१२॥

१. प्रभु कहते हैं कि **यत्**=जो भी **वाहिष्ठम्**=सर्वोत्तम प्राप्त करने योग्य वस्तु है **तत्**=उसे **अग्नये**=अग्नि के लिए अर्पित करनेवाला बन, अर्थात् अग्निहोत्र में सर्वोत्तम घृत तथा औषधद्रव्यों को ही डालने का विधान करो। ये पदार्थ ही सूक्ष्मकणों में विभक्त होकर सारे वायुमण्डल में फैलेंगे और तुम्हें पूर्णतया नीरोग करनेवाले होंगे। साथ ही इस प्रकार अग्निहोत्र होने पर ठीक ऋतु में वर्षा होगी, पौष्टिक अन्न की उत्पत्ति होगी और यह अन्न-वृद्धि तुम्हारी सम्पत्ति-वृद्धि का कारण बनेगी। २. हे **विभावसो**=(विभा एव वसु यस्य) ज्ञान धनवाले! तू **बृहद् अर्च**=खूब अर्चना करनेवाला बन। यह अर्चना तेरी शक्ति-वृद्धि करनेवाली होगी। प्रभु के सम्पर्क से प्रभु की शक्ति तुझमें प्रवाहित होगी। ३. **महिषी इव**=(महिष्याः इव) जैसे एक गृहणी से ठीक उसी प्रकार **त्वत्**=तुझसे **रयिः**=धन तथा **त्वत्**=तुझसे **वाजाः**=अन्न **उदीरते**=प्रवाहित होते हैं। तू परोपकार के लिए धनों व अन्नों को देनेवाला होता है। घर में गृहिणी=पत्नी सबको खिलाकर खाती है, इसी प्रकार तू भी पाँचों यज्ञों के द्वारा धनों व अन्नों को औरों तक पहुँचाकर ही बचे हुए को खानेवाला बनता है। एवं, तेरे जीवन में 'अग्निहोत्र, उपासना व दान'—ये सतत प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—१. हम उत्तम घृत व औषधद्रव्यों से अग्निहोत्र करें। २. ज्ञानरूप धनवाले बनकर प्रभु का अर्चन करें। ३. सदा धनों व अन्नों का दान करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

वेद का उपदेश

एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्नऽइत्थेतरा गिरः। एभिर्वर्द्धासऽइन्दुभिः॥१३॥

१. प्रभु की अर्चना से ज्ञान का प्रकाश तो प्राप्त होता ही है, प्रभु की शक्ति भी हममें प्रवाहित होती है और हम 'भारद्वाज' बनते हैं, अपने में शक्ति को भरनेवाले। इस भारद्वाज से प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=आगे बढ़ने की प्रवृत्तिवाले! **एहि उ**=तुम मेरे समीप आओ ही, अर्थात् प्रातः-सायं मेरा ध्यान करने का प्रयत्न करो। २. मैं **ते**=तेरे लिए **इत्था**=इस प्रकार से, अर्थात् तेरे मेरे समीप आने से **गिरः**=उन वाणियों को **ब्रुवाणि**=उत्तमता से कहता हूँ जोकि **इतराः**=(इ तराः) कामवासना से तुझे तैरानेवाली होती हैं, जिनके उच्चारण से तू वासना को जीत लेता है। ३. हे भारद्वाज! तू **एभिः**=इन **इन्दुभिः**=सोमकणों से **वर्द्धासे**=वृद्धि को प्राप्त कर। तुझमें ये सोमकण उत्पन्न होते हैं, यदि तू इनकी सम्यक् रक्षा करेगा तो ये तेरे शरीर को नीरोग करनेवाले होंगे, तेरे मन को वासनाओं से बचाकर निर्मल बनाएँगे, तेरी ज्ञानाग्नि का ये ईंधन होंगे। इस प्रकार तेरी उन्नति उसी अनुपात में होगी जिस अनुपात में तू इन सोमकणों की रक्षा कर सकेगा।

भावार्थ—हम प्रभु-सम्पर्क में आकर वेदवाणियों का श्रवण करें और सोम की रक्षा

करनेवाले हों।

ऋषिः—**भारद्वाजः**। देवता—**संवत्सरः**। छन्दः—**भुरिग्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

यज्ञ व प्रजा-परिपालन

ऋतवस्ते यज्ञं वि तन्वन्तु मासा रक्षन्तु ते हविः।
संवत्सरस्ते यज्ञं दधातु नः प्रजां च परि पातु नः॥१४॥

१. गतमन्त्र की भाँति प्रस्तुत मन्त्र में भी प्रभु भारद्वाज से कहते हैं कि **ऋतवः**=ऋतुएँ **ते यज्ञम्**=तेरे यज्ञ को **वितन्वन्तु**=विस्तृत करनेवाली हों, अर्थात् ऋतुओं के अनुसार तेरे यज्ञ निरन्तर चलते रहें। २. **मासाः**=प्रत्येक मास **ते हविः**=तेरे दानपूर्वक अदन के भाव को **रक्षन्तु**=रक्षित करें, अर्थात् तुझमें कभी भी न देकर सारा खा जाने की वृत्ति उत्पन्न न हो जाए। ३. **संवत्सरः**=वर्ष **ते**=तेरे लिए **नः**=हमारे **यज्ञम्**=यज्ञ को **दधातु**=धारण करे, अर्थात् वर्षभर तेरे द्वारा यज्ञ निरन्तर चलता रहे और वस्तुतः यह यज्ञ ही तेरे उत्तम रक्षण का कारण बने **च**=और निरन्तर चलाया जाता हुआ यह यज्ञ **नः प्रजाम्**=हमारी प्रजा को **परिपातु**=सुरक्षित करे। वस्तुतः यह सम्पूर्ण प्रजा उस प्रभु की ही है, इस प्रजा की रक्षा के लिए यज्ञ ही महान् साधन है। प्रभु ने प्रजाओं को यज्ञ के साथ ही उत्पन्न किया और कहा कि इसी से तुम फूलो-फलोगे, यही तुम्हारी सब इष्टकामनाओं को पूर्ण करेगा।

भावार्थ—हम प्रत्येक ऋतु में यज्ञशील बनें, सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले हों, सारा वर्ष हमारा यज्ञ अविच्छिन्न चलता रहे और यह यज्ञ प्रजा का परिपालन करनेवाला हो।

ऋषिः—**वत्सः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

जीवन की पूर्ति=विप्रता

उपह्वरे गिरीणाꣳसङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रोऽअजायत॥१५॥

१. गतमन्त्र में प्रतिपादित यज्ञादि उत्तम कर्मों की वृत्ति जीवन में तभी बनती है, जब प्रस्तुत मन्त्र के अनुसार उत्तम गुरुओं की समीपता, प्रभुभक्त व स्तोताओं का संग प्राप्त होता है। मन्त्र में कहते हैं—**गिरीणाम्**=(गुरूणां गृणन्ति इति) गुरुओं के **उपह्वरे**=समीप **विप्रः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाला (वि+प्रा) **अजायत**=बनता है। गिरि और गुरु शब्द एक ही धातु से बने हैं। संन्यासियों का एक वर्ग 'गिरि' भी है। ये घूम-घूमकर प्रजा को उपदेश देते हैं। जिस बालक को उत्तम गुरुओं का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है वह ज्ञानी बन जाता है। **'मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुषो वेद'**। ५ वर्ष तक जिसे उत्तम मातृरूप गुरु ने सदाचारी बनाया, आठ वर्ष तक पितृरूप गुरु ने जिसे सुशील बनाया तथा २५ वर्ष तक जिसे आचार्यरूप गुरु ने उत्तम ज्ञान दिया यह पुरुष वि-प्र बनता है, अपना पूरण करनेवाला होता है **च**=और २. **नदीनाम्**=(नदिः=स्तोता) स्तोताओं के **संगमे**=संग में **विप्रः अजायत**=अपना पूरण करनेवाला बनता है। इन गुरु-भक्तों का संग मिलने से वृत्ति सुन्दर बनी रहती है, मनुष्य विषय-वासनाओं में भटककर विकृत जीवनवाला नहीं बनता। ३. गुरुओं की समीपता में और स्तोताओं की सङ्गत में **धिया**=सदा ज्ञानपूर्वक कर्म करने से (धीः प्रज्ञा व कर्म) मनुष्य **विप्रः**=अपनी न्यूनताओं को दूर करके पूर्ति करनेवाला **अजायत**=होता है। जब मनुष्य को सुगुरुओं का सामीप्य नहीं मिलता तथा इसका सङ्ग प्रभुप्रवण लोगों से नहीं होता तब वह संसार में ज्ञान की अपेक्षा मूर्खतापूर्ण भोगविलासों में अधिक फँस जाता है और इसका जीवन दोषों से भरा हुआ हो जाता है।

भावार्थ—हमें गुरुओं का सान्निध्य प्राप्त हो, स्तोताओं की संगत में हम उठें-बैठें और ज्ञानपूर्वक कर्मों में लगे रहें तो हमारा जीवन अधिकाधिक पूर्ण होता जाएगा। जीवन की पूर्णता से हम 'वत्स', प्रभु के प्रिय, इस मन्त्र के ऋषि बनेंगे।

ऋषिः—**महीयवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सात्त्विक पदार्थों का सेवन

उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्या ददे। उग्रꣳशर्म महि श्रवः॥१६॥

१. गतमन्त्र के 'वत्स' से ही प्रभु कहते हैं कि **ते**=तेरा **अन्धसः**=इस आध्यायनीय, सब दृष्टिकोण से ध्यान देने योग्य सोम से **उच्चा जातम्**=उत्कृष्ट विकास हुआ है, क्योंकि इसी की रक्षा से शरीर 'नीरोग' मन 'निर्मल' तथा बुद्धि 'तीव्र' बनती है। २. इस सोम की रक्षा का ही यह परिणाम है कि तू **दिवि**=सदा प्रकाशमयलोक में रहता हुआ **सत्**=उत्कृष्ट **भूमिः**=पार्थिव पदार्थों को ही **आददे**=ग्रहण करता है। तू भोजनों में सात्त्विक भोजनों का ही सेवन करता है। ३. इन सात्त्विक पदार्थों के सेवन से **उग्रम् शर्म**=उत्कृष्ट सुख को प्राप्त करता है तथा **महिश्रवः**=महनीय कीर्ति व धन को प्राप्त करनेवाला होता है। लौकिक सुखों से ऊपर उठा होने के कारण और उदात्त अपार्थिव सुखों में विचरण करने के कारण ही यह 'अमहीयु' की सन्तान 'आमहीयव' कहलाता है, यह मही—पृथिवी व पार्थिव भोगों को अपने से जोड़ना नहीं चाहता।

भावार्थ—हम जितना सोम का रक्षण करेंगे उतना ही उत्कृष्ट हमारा विकास होगा, प्रकाशमय जीवन बिताते हुए हम उत्तम सात्त्विक पार्थिव पदार्थों को ग्रहण करेंगे, परिणामतः हमें उदात्त सुख व महनीय कीर्ति व धन प्राप्त होगा।

ऋषिः—**महीयवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

दान के पात्र

स नऽइन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः। वरिवोवित्परि स्रव॥१७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'महीयवः'=उत्कृष्ट धन को प्राप्त करनेवाले अमहीयु से प्रभु कहते हैं **सः**=वह **वरिवोवित्**=(वरिवः धन) धन को प्राप्त करनेवाला तू **नः**=हमारे **इन्द्रायः**=इन्द्रियों के अधिष्ठता, जितेन्द्रिय पुरुष के लिए, **यज्यवे**=यज्ञशील पुरुष के लिए तथा **मरुद्भ्यः**=(मरुतः प्राणाः) प्राणशक्ति-सम्पन्न पुरुषों के लिए, प्राणसाधना करनेवाले अभ्यासी पुरुषों के लिए **परिस्रव**=धन को प्राप्त करानेवाला हो। इनके लिए तेरा धन बहे। २. वस्तुतः पात्रापात्र का विचार करके ही दान देना ठीक होता है। दान के पात्र ये व्यक्ति हैं जोकि (क) जितेन्द्रिय होने से भोगविलास में धन का व्यर्थ में व्यय न करेंगे, (ख) यज्ञशील होने से यज्ञादि उत्तम कर्मों में ही धन को विनियुक्त करेंगे, (ग) धन का विनियोग वे स्नेह की भावना को बढ़ाने के लिए ही करेंगे, उनका धन द्वेष-वर्धक न होगा, (घ) उनका धन प्राणसाधनादि योगवृत्तियों के प्रसार में विनियुक्त होगा। वस्तुतः ये ही व्यक्ति दान के पात्र हैं। इनसे विपरीत वृत्तिवालों को दिया गया धन हानिकर ही होगा।

भावार्थ—हमारा धन 'इन्द्र, यज्यु, वरुण व मरुतों' के लिए हो।

ऋषिः—**महीयवः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**स्वराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

यज्ञशेष का सेवन

एना विश्वान्यर्यऽआ द्युम्नानि मानुषाणाम्। सिषासन्तो वनामहे॥१८॥

१. 'अमहीयु' प्रार्थना करता है—**अर्यः**=सब धनों का स्वामी प्रभु **एना**=इन **विश्वानि**=सब **मानुषाणाम्**=मनुष्यों के, अर्थात् विचारशील पुरुषों के लिए हितकर **द्युम्नानि**=धनों को हमारे लिए **आ**=(आनयतु) प्राप्त कराए। प्रभुकृपा से हम उन सब धनों को प्राप्त करनेवाले बनें, जो मनुष्य के लिए हितकर हैं। २. इन धनों को प्राप्त करके 'अमहीयु' चाहता है कि हम इन धनों को **सिषासन्तः**=उचित पात्रों में दान करते हुए ही **वनामहे**=(संभुञ्महे) इनका उपयोग करें। भौतिक शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन का विनियोग आवश्यक ही है, परन्तु हम अपने जीवनों में इस भोग को प्रथम स्थान न दे दें, **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** प्रभु के इस आदेश का ध्यान करते हुए पहले त्याग व पीछे भोग को समझें। केवलादी न बनें, यह हमें न भूले कि **'केवलाघो भवति केवलादी'** अकेला खानेवाला शुद्ध पाप को ही खाता है। **'अपञ्चयज्ञो मलिम्लुचः'** पञ्चयज्ञ न करके स्वयं सब खा जानेवाला चोर है। ऐसा हम समझें और सदा बाँटकर ही खाएँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें मानवहितकारी धन प्राप्त हों और उन्हें पात्रों में बाँटकर हम सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाल बनें। हम इस बात को न भूलें कि धनों के स्वामी हम नहीं, वे प्रभु ही हैं। उसके धनों का विनियोग उसके आदेश के अनुसार ही करें।

ऋषिः—**मुद्गलः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**त्रिष्टप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

यज्ञ व पोषण

अनु वीरैरनु पुष्यास्म गोभिरन्वश्वैरनु सर्वेण पुष्टैः।
अनु द्विपदानु चतुष्पदा वयं देवा नो यज्ञमृतुथा नयन्तु॥१९॥

१. गतमन्त्र के यज्ञ के अनुपात में **वीरैः**=वीर पुत्रों से **अनुपुष्यास्म**=हम पोषण को प्राप्त करें। जितना-जितना हमारा जीवन यज्ञिय होता है उतना-उतना हमारे सन्तान भी वीर बनते हैं। वस्तुतः भोगमार्ग हमारी शक्तियों को क्षीण करता है, हमारी शक्तियों की क्षीणता के साथ हमारी सन्ताने भी निर्बल होती हैं। २. **गोभिः अश्वैः अनु** (पुष्यास्म)=हम गौवों व घोड़ों से पोषण को प्राप्त हों। हमारे घरों में गौवें हों, घोड़े हों और उनसे हमारे ब्रह्म व क्षत्र का पोषण हो। अथवा 'गाव ज्ञानेन्द्रियाणि, अश्वाः कर्मेन्द्रियाणि' हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ ठीक पोषण से युक्त हों। वस्तुतः यज्ञिय वृत्ति हमारी इन्द्रियों को अक्षीण-शक्ति बनाती है। ३. **सर्वेण अनु** (पुष्यास्म)=अन्य भी सब चाहने योग्य शक्तियों के पोषणवाले हम हों, **पुष्टैः**=पुष्टि के साधनभूत गृह आदि सब पदार्थों से **अनु**=(पुष्यास्म)=हम अनुपुष्ट हों। ४. **द्विपदा**=दो पाँवोंवाले मनुष्यों से अनु (पुष्यास्म)=पोषण को प्राप्त हों और **चतुष्पदा वयम्** (पुष्यास्म) चौपाये गौ आदि पशुओं से हम पोषण प्राप्त करनेवाले हों। ५. इस पोषण के उद्देश्य से ही **देवाः**=सब देव **नः**=हमें **यज्ञम्**=यज्ञ को **ऋतुथा**=ऋतु के अनुसार **नयन्तु**=प्राप्त कराएँ। हम प्रत्येक ऋतु में, ऋतु के अनुसार ही हविर्द्रव्यों से यज्ञ करनेवाले हों और यह यज्ञ हमें वीरों, गौवों, अश्वों तथा पोषण के लिए आवश्यक अन्य सब पदार्थों से पुष्ट करें। इन यज्ञों से मनुष्य व पशु सब हमारे अनुकूल हों और हमारे पोषण का कारण बनें।

भावार्थ—हमारी वृत्ति यज्ञिय हो। यज्ञों से हमें सब प्रकार का पोषण प्राप्त हो।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

देव-पत्नी तथा त्वष्टा

अग्ने पत्नीरिहा वह देवानामुशतीरुप। त्वष्टारꣳसोमपीतये॥२०॥

१. प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'मेधातिथि' है, यह निरन्तर बुद्धि की ओर अग्रसर हो रहा है (मेधाम् अतति) अथवा यह सदा बुद्धिपूर्वक ही संसार में चलता है (मेधया अतति)। इस मेधातिथि से प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=जीवन-यात्रा में निरन्तर आगे बढ़नेवाले जीव! **इह**=इस मानव-जन्म में तू **उशतीः**=(कामयमानाः) सदा लोकहित की कामना करता हुआ **देवनाम् पत्नीः**=शरीर में वाणी इत्यादि के रूप से रहनेवाले अग्नि आदि देवों की पत्नियों को, शक्तियों को **उपावह**=समीपता से प्राप्त करनेवाला हो। २. तू **सोमपीतये**=सोम के पान के लिए, अर्थात् शरीर में सोम को सुरक्षित रखने के लिए **त्वष्टारम्**=त्वष्टा को (त्विषेर्वा स्याद्दीप्तिकर्मणः, त्वषतेर्वा करोतिकर्मणः) ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा दीप्ति को प्राप्त करनेवाला बन। सोम की रक्षा के लिए आवश्यक है मनुष्य को ज्ञान प्राप्ति की प्रबल उत्कण्ठा हो। उसे आलस्य से घृणा हो, ज्ञान-प्राप्ति व क्रियाशलता सोमरक्षा के साधन हैं।

भावार्थ—आगे बढ़ने का अभिप्राय है जीवन में दिव्य गुणों को आमन्त्रित करना। दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए सोमरक्षा आवश्यक है। सोम को शरीर में ही व्याप्त करने के लिए हम त्वष्टा बनें, सदा ज्ञान की प्राप्ति करनेवाले तथा क्रियाशील जीवनवाले हों।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सोम-रक्षा का साधन व साध्य

अभि यज्ञं गृणीहि नो ग्नावो नेष्टः पिब ऽऋतुना। त्वꣳहि रत्नधाऽअसि॥२१॥

१. **हे ग्नावः** (ग्ना वाणी—नि० १।११) प्रशस्त वाग्मिन्! उत्तम प्रवचन करनेवाले! **नः**=हमें **यज्ञम् अभि**=यज्ञ का लक्ष्य करके **गृणीहि**=उपदेश दीजिए, अर्थात् इस प्रकार उत्तमता से वेद का प्रवचन कीजिए कि हमारी प्रवृत्ति यज्ञ की ओर झुकाववाली हो जाए। हम भोगप्रवणता से ऊपर उठ जाएँ। वस्तुतः यही तो साधन है जिससे हम अपने शरीर में उत्पन्न हुए-हुए सोम की रक्षा कर सकेंगे। २. वह प्रशस्त वाग्मी मुख्यरूप से यही उपदेश करता है कि हे **नेष्टः**=अपने को आगे ले-चलनेवाले! तू **ऋतुना**=समय रहते **पिब**=सोम का पान करनेवाला बन। यदि तुझे यौवन के बीत जाने पर वार्धक्य में सोमरक्षा का ध्यान आया तो यह तेरे लिए कितने दुर्भाग्य की बात होगी। हम समय रहते यौवन में ही, ठीक ऋतु में ही, सोम का पान करें, यही अपने को अग्नि बनाने व आगे ले-जाने का साधन है। ३. इस सोम के पान से **त्वम्**=तू **हि**=निश्चय से **रत्नधा**=रमणीय धातुओं का धारण करनेवाला बनता है। 'यज्ञों में लगे रहना' सोमपान का साधन है, और रत्नों का धारण उस सोमपान का साध्य है। सोमपान से हमारे जीवन में सब रमणीय वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। शरीर में यह सोम ही नीरोगता का कारण बनता है, यही मन में निर्मलता लाता है और बुद्धि में तीव्रता पैदा करता है। संक्षेप में यह सोमपान 'शरीर, मन व मस्तिष्क' सभी को स्वस्थ करता है।

भावार्थ—(क) हमारी वेदादि के प्रवचनों से यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्ति हो, (ख) इसके परिणामरूप भोगवृत्ति व वासनाओं से बचकर हम सोम का पान करनेवाले बनें, (ग) इस सोमपान से हमारे जीवन में रमणीय वस्तुओं का धारण होगा। हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क सभी दीप्त होंगे।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

दान व सोमपान

द्रविणोदाः पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत। नेष्ट्रादृतुभिरिष्यत॥२२॥

१. गतमन्त्र के सोमपान का ही उल्लेख करते हुए कहते हैं **द्रविणोदाः**=धन का दान

करनेवाला ही **पिपीषति**=सोम के पान की इच्छा करता है। वस्तुतः सोमपान का मूलसूत्र 'भोगवृत्ति से ऊपर उठना' है, भोगवृत्ति से ऊपर उठानेवाली वस्तु दान है। एवं, दान का परिणाम यह हो जाता है कि हम सोम को शरीर में ही सुरक्षित करनेवाले बनते है। २. इस दान का प्रासंगिक लाभ यह भी होता है कि मनुष्य प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है, अतः कहते हैं कि **जुहोत**=दान देनेवाले बनो, **च**=और **प्रतिष्ठत**=प्रतिष्ठा को प्राप्त करो। दान से प्रतिष्ठा होती ही है। ३. इन दान आदि की उत्तम वृत्तियाँ के बने रहने के लिए **नेष्ट्रात्**=नेष्टा के प्रेरणात्मक कर्म से (नेष्टुः इदं नेष्ट्रम्) नेता के प्रेरक प्रवचनों से तुम **ऋतुभिः**=ऋतुओं के साथ **इष्यत**=गति करनेवाले होओ। तुम्हें सदा नेताओं के प्रेरणात्मक उत्तम उपदेश प्राप्त होते रहें और तुममें उत्तम वृत्तियाँ सदा बनी रहें। तुम्हारी सब गतियाँ ऋतुओं के अनुकूल हों।

भावार्थ—दान दें, भोगवृत्ति से बचें और सोम की रक्षा करें। प्रसंगवश प्रतिष्ठा पानेवाले हों। हमें नेताओं से इसी प्रकार की प्रेरणाएँ प्राप्त होती रहें।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

नेष्टा की प्रेरणा

तवायꣳसोमस्त्वमेह्यर्वाङ् शश्वत्तमꣳसुमनाऽअस्य पाहि ।
अस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वेमं जठरऽइन्दुमिन्द्र ॥२३॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर नेता की प्रेरणा के अनुसार चलने का संकेत है। नेता की सर्वमहान् प्रेरणा यह है कि **अयम् सोमः तव**=यह शरीर में उत्पन्न किया गया सोम तेरा है, अर्थात् यह तेरी सब प्रकार की उन्नतियों का साधन है। २. इसकी रक्षा के लिए **त्वम्**=तू **अर्वाङ्**=अपने अन्दर **एहि**=आनेवाला बन। सामान्यतः इन्द्रियों की वृत्ति बहिर्मुखी होती है और यह बाहर भटकना मानव-जीवन को भोगप्रवण बना देता है, अतः हम अन्तर्मुखी वृत्तिवाले बनें। जिधर-जिधर हमारा मन भटकने की करे, उधर-उधर से हम इस चञ्चल मन को रोकने के लिए यत्नशील हों। ३. **सुमनाः**=उत्तम मनवाला बनकर, मन को वासनाओं से शून्य करके तू **शश्वत्तमम्**=(सर्वकालम्) सदा **अस्य पाहि**=इस सोम की रक्षा करनेवाला हो। हम तनिक प्रमाद में हुए कि वासनाओं का शिकार बन सोम का विनाश कर बैठेंगे, अतः सोमरक्षा के लिए सदा सावधान रहना अत्यावश्यक है। ४. **अस्मिन्यज्ञे**=इस यज्ञ में तथा **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **आनिषद्य**=सदा स्थित होकर हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **इमम् इन्दुम्**=इस सोम को **जठरे**=शरीर के मध्य में ही **दधिष्व**=धारण करनेवाला बन। 'सदा यज्ञों में लगे रहना तथा हृदय को वासनाशून्य बनाना' सोमरक्षा के लिए नितान्त आवश्यक हैं।

भावार्थ—सोम (वीर्य) ही हमारी सर्व उन्नतियों का साधन है। इसकी रक्षा के लिए आवश्यक है कि (क) हम अन्तर्मुखी वृत्ति बनाएँ (अर्वाङ् एहि), (ख) मन को सदा वासनाशून्य व निर्मल बनाए रक्खें, (ग) किसी क्षण प्रमाद में न चले जाएँ (शश्वत्तमम्) (घ) सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहें, (ङ) हम अपने हृदय को वासनाशून्य बनाने का ध्यान करें (बर्हिषि)।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

विद्वत् समागम

अमेव नः सुहवाऽआ हि गन्तन नि बर्हिषि सदतना रणिष्टन ।
अथा मन्दस्व जुजुषाणोऽअन्धसस्त्वष्टर्देवेभिर्जनिभिः सुमद्गणः॥२४॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गृत्समद' है—'गृणाति माद्यति'=प्रभु-स्तवन करता है और प्रसन्न रहता है। यह विद्वानों से कहता है कि **नः**=हमारे लिए **सुहवाः**=सुगमता से पुकारने योग्य आप लोग **अमा इव**=अपने घर की भाँति **हि**=निश्चय से **आगन्तन**=आइए। आपको आमन्त्रित करना हमारे लिए दुष्कर न हो जाए, आप हमारे घर को अपना ही घर समझें और यहाँ **बर्हिषि**=दर्भासन पर **निसदतन**=स्थिरता से विराजिए और **रणिष्टन**=उपदेश दीजिए, अर्थात् हम विद्वानों को आमन्त्रित करें, वे हमारे घर में अपने घर की भाँति ही सुविधा अनुभव करें और आसन पर बैठकर हमें समुचित उपदेश दें। २. उपदेश का स्वरूप इस प्रकार है कि (क) **अथा मन्दस्व**=(अ=परमात्मा, of protection रक्षा) उस प्रभु के रक्षण में आनन्द का अनुभव कर, अर्थात् हम अपने को उस प्रभु के अमृत उपस्तरण व अपिधान में सुरक्षित अनुभव करते हुए आनन्दयुक्त मनवाले हों। (ख) **जुजुषाणः**=उस प्रभु के रक्षण में अपने कर्तव्य-कर्मों को प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हों। (ग) हे **अन्धसः**=आध्यायनीय सोम की रक्षा से **त्वष्टः**=(त्विषि=दीप्तौ) अपने ज्ञान को दीप्त करनेवाले साधक! तू **देवेभिः**=दिव्यगुणों के द्वारा तथा **जनिभिः**=अपनी शक्तियों के विकास के द्वारा **सुमद्गणः**=बड़ी प्रसन्न ज्ञानेन्द्रियों के गणवाला उसी प्रकार सुदृढ़ कर्मेन्द्रियों के गणवाला तथा प्रसन्न प्राणपञ्चकवाला बन।

भावार्थ—हमें विद्वान् लोग प्राप्त हों, उनके सदुपदेश को सुनकर हम आनन्दमय मनोवृत्तिवाले बनें, कर्त्तव्यों को प्रीतिपूर्वक करें, सोमरक्षा द्वारा ज्ञान को दीप्त करते हुए दिव्य गुणोंवाले बनें, शक्तियों का विकास करें तथा प्रकृष्ट ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व प्राणोंवाले बनें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

स्वादिष्ठ-मदिष्ठ-धारा

स्वादि॑ष्ठया॒ मदि॑ष्ठया॒ पव॑स्व सोम॒ धार॑या। इन्द्रा॑य॒ पात॑वे सु॒तः॥ २५॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मधुच्छन्दा' है=अत्यन्त उत्तम इच्छावाला। यह सोम को सम्बोधन करता हुआ कहता है कि हे **सोम**=सब उत्तमताओं के जनक (सू) वीर्य! तू **धारया**=अपनी धारणशक्ति के साथ **पवस्व**=हममें प्रवाहित हो। जब वीर्य शरीर में सुरक्षित होता है तब यह शरीर की रक्षा करनेवाला होता है। २. यह सोम की धारकशक्ति **स्वादिष्ठया**=स्वादिष्ठ है। स्वादिष्ठ धारणशक्ति से ही तू हममें प्रवाहित हो, अर्थात् ज्ञान की रक्षा से हमारा जीवन मधुर बने। निर्वीय पुरुष में कटुता होती है, वह चिड़चिड़ा बन जाता है। **मदिष्ठिया**=यह जीवन को हर्षित करनेवाला है। ३. हे सोम! **सुतः**=उत्पन्न हुआ- हुआ तू **इन्द्राय पातवे**=जितेन्द्रिय पुरुष की रक्षा के लिए हो, अर्थात् सोम का मुख्य प्रयोजन शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य का रक्षण है।

भावार्थ—हम सोम की रक्षा करें। यह हमारी वाणी व वृत्ति को मुधर बनाएगा, हम सदा प्रसन्न रहेंगे, यह हमारे शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य का रक्षण करेगा।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

अयोहत शरीर

र॒क्षो॒हा वि॒श्वच॑र्षणिर॒भि योनि॒मयो॑हते। द्रोणे॑ स॒धस्थ॒मास॑दत्॥ २६॥

१. मधुच्छन्दा यह समझता है कि यह सोम **रक्षोहा**=रोगकृमियों का नाशक है। रोगकृमियों के नाश के द्वारा जैसे यह शरीर के रोगों का नाश करता है, उसी प्रकार यह

राक्षसी वृत्तियों को नष्ट करके मन को भी निर्मल बनाता है। ३. **विश्वचर्षणिः**=सम्पूर्ण जगत् का दर्शन करानेवाला है, अर्थात् ऊँचे-से-ऊँचे विज्ञान की प्राप्ति का यह कारण बनता है। सोमरक्षा से ही ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है और ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होने पर मनुष्य प्रकृति के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर पाता है। एवं, यह सोम विश्वचर्षणि है। ३. जब यह सोम वासनाओं के कारण विनम्र न होकर **अभियोनिम्**=अपने उत्पत्तिस्थान इस शरीर में ही प्रविष्ट होता है तब **अयोहते द्रोणे**=(अयसा हते उत्कीर्णे) मानो लोहे से ढले हुए इस शरीर में, वज्रतुल्य बने हुए इस दृढ़ शरीर में **सधस्थम्**=जीवात्मा व परमात्मा की सहस्थिति को **आसदत्**=प्राप्त कराता है। सोमरक्षा करनेवाले का शरीर तो इतना दृढ़ बनता है कि मानो लोहे को ही ढालकर बना दिया गया हो और इस वज्रतुल्य शरीर में जीव परमात्मा के साथ निवास को प्राप्त करता है, अर्थात् अपने हृदय में जीव परमात्मा का उपासन करता है, प्रभु के सम्पर्क में निवास करता है, इसकी प्रभु के साथ सहस्थिति हो जाती है। इससे ऊँची स्थिति हो ही क्या सकती है?

भावार्थ—सोम रोगकृमियों का नाशक है, राक्षसीवृत्तियों को दूर करता है, सम्पूर्ण विज्ञान का साधन बनता है। शरीर में व्याप्त होकर यह शरीर को लोहे का बना हुआ अत्यन्त दृढ़ बना देता है और उस वज्रतुल्य दृढ़ शरीर में प्रभु के साथ सहस्थिति को प्राप्त कराता है।

नोट—शरीर को यहाँ द्रोण कहा है, यह सोम का पात्र है। 'द्रु गतौ' से बनकर यह द्रोण शब्द इस भावना को व्यक्त कर रहा है कि इसे सदा क्रियाशील रहना है। सोलह कलाओं से युक्त होने के कारण यह कलश कहलाया है। वेद में इसे **'चमस्'** नाम से भी स्मरण किया है। इस शरीर में सोम की रक्षा करनेवाला निरन्तर आगे बढ़ता है, अतः उसका नाम ही 'अग्नि' हो जाता है, अतः अगला अध्याय इस अग्नि ऋषि के वर्णन से ही प्रारम्भ होता है।

इति षड्विंशोऽध्यायः॥